'वन्दना' आवश्यक

उपाध्याय श्री अमरमुनि जी महाराज

'वन्दना' तृतीय आवश्यक है। इसमें 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ गुरुदेव के वन्दन हेतु दो बार बोला जाता है। उपाध्याय श्री अमरमुनि जी म.सा. ने 'श्रमण सूत्र' नामक अपनी कृति में श्रमण-प्रतिक्रमण एवं षडावश्यकों का सुन्दर विवेचन किया है। यहाँ पर उसी अमरकृति से 'वन्दना आवश्यक' से सम्बद्ध सामग्री संकलित की गई है। 'इच्छामि खमासमणो' पाठ से सम्बद्ध कुछ शब्दों यथा 'क्षमाश्रमण', 'अहोकायं काय-संफासं', 'आशातना', 'बाहर आवर्त' एवं 'वन्दन विधि' पर भी विवेचन यहाँ संगृहीत है। यथाजात मुद्रा, यापनीया आदि शब्दों पर प्रकाश इस विशेषांक के विशिष्ट प्रश्नोत्तरों में उपलब्ध है। -सम्पादक

गुरुदेव को वन्दन करने का अर्थ है- गुरुदेव का स्तवन और अभिवादन।[1] मन, वचन और शरीर का वह प्रशस्त व्यापार, जिसके द्वारा गुरुदेव के प्रति भक्ति और बहुमान प्रकट किया जाता है, वन्दन कहलाता है।

वन्दन आवश्यक की शुद्धि के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वन्दनीय कैसे होने चाहिए? वे कितने प्रकार के हैं? अवन्दनीय कौन हैं? अवन्दनीय लोगों को वन्दन करने से क्या दोष होता है? वन्दन करते समय किन-किन दोषों का परिहार करना जरूरी है? जब तक साधक उपर्युक्त विषयों की जानकारी न कर लेगा, तब तक वह कथमपि वन्दनावश्यक के फल का अधिकारी नहीं हो सकता।

जैनधर्म गुणों का पूजक है। वह पूज्य व्यक्ति के सद्गुण देखकर ही उसके आगे सिर झुकाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र की तो बात ही और है। यहाँ जैन इतिहास में तो गुणहीन साधारण सांसारिक व्यक्ति को वन्दन करना भी हेय समझा जाता है। असंयमी को, पतित को वन्दन करने का अर्थ है- पतन को और अधिक उत्तेजन देना। जो समाज इस दिशा में अपना विवेक खो देता है, वह पापाचार, दुराचार को निमंत्रण देता है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं कि- 'जो मनुष्य गुणहीन अवंद्य व्यक्ति को वन्दन करता है, न तो उसके कर्मों की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही। प्रत्युत असंयम का, दुराचार का अनुमोदन करने से कर्मों का बंध होता है। वह वन्दन व्यर्थ का कायक्लेश है'-

पासत्थाई वंदमाणस्स, नेव कित्ती न निज्जरा होई।
काय-किलेसं एमेव, कुणई तह कम्मबंधं च॥

अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करने वाले को ही दोष होता है और वन्दन कराने वाले को कुछ भी दोष नहीं होता, यह बात नहीं है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं कि यदि अवन्दनीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति गुणी पुरुषों द्वारा वन्दन कराता है तो वह असंयम में और भी वृद्धि करके अपना अधः पतन करता है।

जैन धर्म के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के चारित्र से संपन्न त्यागी, वीतराग, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर एवं गुरुदेव आदि ही वन्दनीय हैं। इन्हीं को वन्दना करने से भव्य साधक अपना आत्मकल्याण कर सकता है, अन्यथा नहीं। साधक के लिए वही आदर्श उपयोगी हो सकता है, जो बाहर में भी पवित्र एवं महान् हो और अन्दर में भी।

वन्दन आवश्यक का यथाविधि पालन करने से विनय की प्राप्ति होती है, अहंकार अर्थात् गर्व का (आत्म-गौरव का नहीं)नाश होता है, उच्च आदर्शों की झाँकी का स्पष्टतया भान होता है, गुरुजनों की पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और श्रुत धर्म की आराधना होती है। यह श्रुत धर्म की आराधना आत्मशक्तियों का क्रमिक विकास करती हुई अन्ततोगत्वा मोक्ष का कारण बनती है। भगवती सूत्र में बतलाया गया है कि-'गुरुजनों का सत्संग करने से शास्त्र-श्रवण का लाभ होता है; शास्त्र श्रवण से ज्ञान होता है, ज्ञान से विज्ञान होता है और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम, अनास्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया अथ च सिद्धि का लाभ होता है।'

सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥-भगवती २/५/११२

गुरु-वन्दन की क्रिया बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। साधक को इस ओर उदासीन भाव नहीं रखना चाहिए। मन के कण-कण में भक्ति-भावना का विमल स्रोत बहाये बिना वन्दन द्रव्य वन्दन हो जाता है और वह साधक के जीवन में किसी प्रकार की भी उत्क्रान्ति नहीं ला सकता। जिस वन्दन की पृष्ठ भूमि में भय हो, लज्जा हो, संसार का कोई स्वार्थ हो, वह कभी-कभी आत्मा का इतना पतन करता है कि कुछ पूछिए नहीं। इसीलिए द्रव्य वन्दन का जैन धर्म में निषेध किया गया है। पवित्र भावना के द्वारा उपयोगपूर्वक किया गया भाव वन्दन ही तीसरे आवश्यक का प्राण है। आचार्य मलयगिरि आवश्यकवृत्ति में, द्रव्य और भाव-वन्दन की व्याख्या करते हुए कहते हैं- 'द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्त-सम्यग्दृष्टेश्च, भावतः सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य।'

आचार्य जिनदासगणि ने आवश्यक चूर्णि में द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन पर दो कथानक दिए हैं। एक कथानक भगवान् अरिष्टनेमि के समय का है। भगवान् नेमि के दर्शनों के लिए वासुदेव कृष्ण और उनके मित्र वीरककौलिक पहुँचे। श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमि और अन्य साधुओं को बड़े ही पवित्र श्रद्धा एवं उच्च भावों से वन्दन किया। वीरककौलिक भी श्रीकृष्ण की देखादेखी उन्हें प्रसन्न करने के लिए पीछे-पीछे वन्दन करता रहा। वन्दन-फल के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् नेमि ने कहा कि- 'कृष्ण! तुमने भाव वन्दन किया है, अतः तुमने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त की और तीर्थंकर गोत्र की शुभ प्रकृति का बंध किया। इतना ही नहीं, तुमने सातवीं, छठी, पाँचवीं और चौथी नरक का बंधन भी तोड़ दिया है। परन्तु वीर ने केवल देखा-देखी भावनाशून्य वन्दन किया है, अतः उसका वन्दन द्रव्यवन्दन होने से निष्फल है। उसका उद्देश्य तुम्हें प्रसन्न करना है और कुछ नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा कथानक भी इसी युग का है। श्रीकृष्णचन्द्र के पुत्रों में से शाम्ब और पालक नामक दो पुत्र वन्दना के इतिहास में सुविश्रुत हैं। शाम्ब बड़ा ही धर्म-श्रद्धालु एवं उदार प्रकृति का युवक था। परन्तु पालक बड़ा ही लोभी एवं अभव्य प्रकृति का स्वामी था। एक दिन प्रसंगवश श्रीकृष्ण ने कहा कि - 'जो कल प्रातःकाल सर्वप्रथम भगवान् नेमिनाथ जी के दर्शन करेगा, वह जो माँगेगा, दूँगा।' प्रातःकाल होने पर शाम्ब ने जागते ही शय्या से नीचे उतर कर भगवान् को भाववन्दन कर लिया। परन्तु पालक राज्य-लोभ की मूर्च्छा से घोड़े पर सवार होकर जहाँ भगवान् का समवसरण था वहाँ वन्दन करने के लिए पहुँचा। ऊपर से वन्दन करता रहा, किन्तु अन्दर में लोभ की आग जलती रही। सूर्योदय के पश्चात् श्रीकृष्ण ने पूछा कि भगवन्! आज आपको पहले वन्दना किसने की? भगवान् ने उत्तर दिया- 'द्रव्य से पालक ने और भाव से शाम्ब ने।' उपहार शाम्ब को प्राप्त हुआ।

उक्त कथानकों से द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन का अन्तर स्पष्ट है। भाववन्दन ही आत्मशुद्धि का मार्ग है। केवल द्रव्य वन्दन तो अभव्य भी कर सकता है। परन्तु अकेले द्रव्य वन्दन से होता क्या है? द्रव्य वन्दन में जब तक भाव का प्राण न डाला जाए, तब तक आवश्यक शुद्धि का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

हितोपदेशी गुरुदेव को विनम्र हृदय से अभिवन्दन करना और उनकी दिन तथा रात्रि संबंधी सुखशांति पूछना, शिष्य का परम कर्त्तव्य है। अंधकार में भटकते हुए, ठोकरें खाते हुए मनुष्य के लिए दीपक की जो स्थिति है, ठीक वही स्थिति अज्ञानान्धकार में भटकते हुए शिष्य के प्रति गुरुदेव की है। अतएव जैन संस्कृति में कृतज्ञता-प्रदर्शन के नाते पद-पद पर गुरुदेव को वन्दन करने की परम्परा प्रचलित है। अरिहन्तों के नीचे गुरुदेव ही आध्यात्मिक साम्राज्य के अधिपति हैं। उनको वन्दन करना भगवान् को वन्दन करना है। इस महिमाशाली गुरुवन्दन के उद्देश्य को एवं इसकी सुन्दर पद्धति को प्रस्तुत पाठ में बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रदर्शित किया गया है।

गुरुचरणों का स्पर्श मस्तक पर लगाने से ही भारतीय शिष्यों को ज्ञान की विभूति मिली है। गुरुदेव के प्रति विनय, भक्ति ही हमारी कल्याण-परम्पराओं का मूल स्रोत है। आचार्य उमास्वाति की वाणी सुनिए, वह क्या कहते हैं-

विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरतिः विरतिफलं चास्रवनिरोधः।।
संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम्।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम्।।
योगनिरोधाद् भवसंततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः।
तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः।।

'गुरुदेव के प्रति विनय का भाव रखने से सेवाभाव की जागृति होती है, गुरुदेव की सेवा से शास्त्रों के गंभीर ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान का फल पापाचार से निवृत्ति है और पापाचार की निवृत्ति का फल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आस्रव-निरोध है।'

'आस्रवनिरोध रूप संवर का फल तपश्चरण है, तपश्चरण से कर्ममल की निर्जरा होती है; निर्जरा के द्वारा क्रिया की निवृत्ति और क्रियानिवृत्ति से मन, वचन तथा काययोग पर विजय प्राप्त होती है।'

'मन, वचन और शरीर के योग पर विजय पा लेने से जन्ममरण की लम्बी परंपरा का क्षय होता है, जन्ममरण की परंपरा के क्षय से आत्मा को मोक्षपद की प्राप्ति होती है। यह कार्यकारणभाव की निश्चित शृंखला हमें सूचित करती है कि समग्र कल्याणों का एकमात्र मूल कारण विनय है।'

प्राचीन भारत में विनय के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है। आपके समक्ष 'इच्छामि खमासमणो' के रूप में गुरुवन्दन का पाठ है, देखिए कितना भावुकतापूर्ण है? 'विणओ जिणसासणमूलं' की भावना का कितना सुन्दर प्रतिबिम्ब है? शिष्य के मुख से एक-एक शब्द प्रेम और श्रद्धा के अमृत रस में डूबा निकल रहा है।

वन्दना करने के लिए पास में आने की भी क्षमा माँगना, चरण छूने से पहले अपने संबंध में 'निसीहियाए' पद के द्वारा सदाचार से पवित्र रहने का गुरुदेव को विश्वास दिलाना, चरण छूने तक के कष्ट की भी क्षमायाचना करना, सायंकाल में दिन संबंधी और प्रातःकाल में रात्रि संबंधी कुशलक्षेम पूछना, संयम-यात्रा की अस्खलना भी पूछना, अपने से आवश्यक क्रिया करते हुए जो कुछ भी आशातना हुई हो तदर्थ क्षमा माँगना, पापाचारमय पूर्वजीवन का परित्याग कर भविष्य में नये सिरे से संयम-जीवन के ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना, कितना भावभरा एवं हृदय के अन्तस्तम भाग को छूने वाला वन्दन का क्रम है। स्थान-स्थान पर गुरुदेव के लिए 'क्षमाश्रमण' संबोधन का प्रयोग, क्षमा के लिए शिष्य की कितनी अधिक आतुरता प्रकट करता है; तथा गुरुदेव को किस ऊँचे दर्जे का क्षमामूर्ति संत प्रमाणित करता है।

क्षमाश्रमण

'श्रमु' धातु तप और खेद अर्थ में व्यवहृत होती है। अतः जो तपश्चरण करता है एवं संसार से सर्वथा निर्विण्ण रहता है, वह श्रमण कहलाता है। क्षमाप्रधान श्रमण क्षमाश्रमण होता है। क्षमाश्रमण में क्षमा से मार्दव आदि दशविध श्रमण-धर्म का ग्रहण हो जाता है।[1] जो श्रमण क्षमा, मार्दव आदि महान् आत्मगुणों से सम्पन्न हैं, अपने धर्मपथ पर दृढ़ता के साथ अग्रसर हैं, वे ही वन्दनीय हैं। यह क्षमाश्रमण शब्द, किसको वन्दन करना चाहिए- इस पर बहुत सुन्दर प्रकाश डालता है।

शिष्य, गुरुदेव को वन्दन करने एवं अपने अपराधों की क्षमा याचना करने के लिए आता है, अतः क्षमाश्रमण संबोधन के द्वारा प्रथम ही क्षमादान प्राप्त करने की भावना अभिव्यक्त करता है। आशय यह है कि 'हे गुरुदेव! आप क्षमाश्रमण हैं, क्षमामूर्ति हैं। मुझ पर कृपाभाव रखिए। मुझसे जो भी भूलें हुई हों, उन सबके लिए क्षमा प्रदान कीजिए।'

अहोकायं काय-संफासं

'अहोकायं' का संस्कृत रूपान्तर 'अधःकायं' है, जिसका अर्थ 'चरण' होता है। अधःकाय का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलार्थ है काय अर्थात् शरीर का सबसे नीचे का भाग। शरीर का सबसे नीचे का भाग चरण ही है, अतः अधःकाय का भावार्थ चरण होता है। 'अधःकायः पादलक्षणस्तमधः कायं प्रति।' -आचार्य हरिभद्र

'काय संफासं' का संस्कृत रूपान्तर 'कायसंस्पर्श' होता है। इसका अर्थ है 'काय से सम्यक्तया स्पर्श करना।' यहाँ काय से क्या अभिप्राय है? यह विचारणीय है। आचार्य जिनदास काय से हाथ ग्रहण करते हैं। ''अप्पणो काएण हत्थेहिं फुसिस्सामि।'' आचार्य श्री का अभिप्राय यह है कि आवर्तन करते समय शिष्य अपने हाथ से गुरु चरणकमलों को स्पर्श करता है, अतः यहाँ काय से हाथ ही अभीष्ट है। कुछ आचार्य काय से मस्तक लेते हैं। वंदन करते समय शिष्य गुरुदेव के चरण-कमलों में अपना मस्तक लगाकर वन्दना करता है, अतः उनकी दृष्टि से काय-संस्पर्श से मस्तक संस्पर्श ग्राह्य है। आचार्य हरिभद्र काय का अर्थ सामान्यतः निज देह ही करते है- 'कायेन निजदेहेन संस्पर्शः कायसंस्पर्शस्तं करोमि।'

परन्तु शरीर से स्पर्श करने का अभिप्राय हो सकता है? यह विचारणीय है। सम्पूर्ण शरीर से तो स्पर्श हो नहीं सकता, वह होगा मात्र हस्त-द्वारेण या मस्तकद्वारेण। अतः प्रश्न है कि सूत्रकार ने विशेषोल्लेख के रूप में हाथ या मस्तक न कहकर सामान्यतः शरीर ही क्यों कहा? जहाँ तक विचार की गति है, इसका यह समाधान है कि शिष्य गुरुदेव के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करना चाहता है, सर्वस्व के रूप में शरीर के कण-कण से चरणकमलों का स्पर्श करके धन्य-धन्य होना चाहता है। प्रत्यक्ष में हाथ या मस्तक स्पर्श भले हो, परन्तु उनके पीछे शरीर के कण-कण में स्पर्श करने की भावना है। अतः सामान्यतः काय-संस्पर्श कहने में श्रद्धा के विराट् रूप की अभिव्यक्ति रही हुई है। जब शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों में मस्तक झुकाता है, तो उसका अर्थ होता है गुरु चरणों में अपने मस्तक की भेंट अर्पण करना। शरीर में मस्तक ही तो मुख्य है। अतः जब मस्तक अर्पण कर दिया गया तो उसका अर्थ है अपना समस्त शरीर ही गुरुदेव के चरणकमलों में अर्पण कर देना। समस्त शरीर को गुरुदेव के चरण-कमलों में अर्पण करने का भाव यह है कि अब मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ आपकी आज्ञा में चलूँगा, आपके चरणों का अनुसरण करूँगा। शिष्य का अपना कुछ नहीं है। जो कुछ भी है, सब गुरुदेव का है। अतः काय के उपलक्षण से मन और वचन का अर्पण भी समझ लेना चाहिए।

आशातना

'आशातना' शब्द जैन आगम-साहित्य का एक प्राचीन पारिभाषिक शब्द है। जैन धर्म अनुशासन-प्रधान धर्म है। अतः यहाँ पद-पद पर अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और गुरुदेव का, किंबहुना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म-साधना तक का भी सम्मान रखा जाता है। सदाचारी गुरुदेव और अपने सदाचार के प्रति किसी भी प्रकार की अवज्ञा एवं अवहेलना, जैन धर्म में स्वयं एक बहुत बड़ा पाप माना गया है। अनुशासन जैनधर्म का प्राण है।

आशातना के व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ है- 'ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही वास्तविक आय-लाभ है, उसकी शातना-खण्डना, आशातना है।' गुरुदेव आदि का अविनय ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप आत्मगुणों के लाभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का नाश करने वाला है। प्रतिक्रमण सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक का अभिमत। 'आयस्य ज्ञानादिरूपस्य शातना=खण्डना आशातना। निरुक्त्या यलोपः।'

आशातना के भेदों की कोई इयत्ता नहीं है। आशातना के स्वरूप-परिचय के लिए दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र में तैंतीस आशातनाएँ वर्णन की गई हैं। यहाँ संक्षेप में द्रव्यादि चार आशातनाओं का निरूपण किया जाता है, आचार्य हरिभद्र के उल्लेखानुसार इनमें तैंतीस का ही समावेश हो जाता है। 'तित्तीसं पि चउसु दव्वाइसु समोयरंति।'

द्रव्य आशातना का अर्थ है- गुरु आदि रात्निक के साथ भोजन करते समय स्वयं अच्छा-अच्छा ग्रहण कर लेना और बुरा-बुरा रात्निक को देना। यही बात वस्त्र, पात्र आदि के संबंध में भी है।

क्षेत्र आशातना का अर्थ है- अड़कर चलना, अड़कर बैठना इत्यादि।

काल आशातना का अर्थ है- रात्रि या विकाल के समय रात्निकों के द्वारा बोलने पर भी उत्तर न देना, चुप रहना।

भाव आशातना का अर्थ है- आचार्य आदि रात्निकों को 'तू' करके बोलना, उनके प्रति दुर्भाव रखना, इत्यादि।

बारह आवर्त[1]

प्रस्तुत पाठ में आवर्त क्रिया विशेष ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार वैदिक मंत्रों में स्वर तथा हस्त-संचालन का ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार इस पाठ में भी आवर्त के रूप में स्वर तथा चरण-स्पर्श के लिए होने वाली हस्त-संचालन क्रिया के संबंध में लक्ष्य दिया गया है। स्वर के द्वारा वाणी में एक विशेष प्रकार का ओज एवं माधुर्य पैदा हो जाता है, जो अन्तःकरण पर अपना विशेष प्रभाव डालता है।

आवर्त के संबंध में एक बात और है। जिस प्रकार वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा करने के बाद पारस्परिक कर्तव्य-निर्वाह के लिए आबद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार आवर्त-क्रिया गुरु और शिष्य को एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-बंधन में बाँध देती है। आवर्तन करते समय शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों का स्पर्श करने के बाद दोनों अंजलिबद्ध हाथों को अपने मस्तक पर लगाता है; इसका हार्द है कि वह गुरुदेव की आज्ञाओं को सदैव मस्तक पर वहन करने के लिए कृतप्रतिज्ञ है।

प्रथम के तीन आवर्त- 'अहो'-'कायं'-'काय' इस प्रकार दो-दो अक्षरों से पूरे होते हैं। कमलमुद्रा से अंजलिबद्ध दोनों हाथों से गुरु-चरणों को स्पर्श करते हुए मन्द स्वर से 'अ' अक्षर कहना, तत्पश्चात् अंजलिबद्ध हाथों को मस्तक पर लगाते हुए उच्च स्वर से 'हो' अक्षर कहना, यह पहला आवर्तन है। इसी प्रकार 'का...यं' और 'का...य' के शेष दो आवर्तन भी किए जाते हैं।

अगले तीन आवर्त- 'ज त्ता भे' 'जवणि'- 'ज्जं च भे' इस प्रकार तीन-तीन अक्षरों के होते हैं। कमल मुद्रा से अंजलि बाँधे हुए दोनों हाथों से गुरु चरणों को स्पर्श करते हुए अनुदात्त- मन्द स्वर से...'ज' अक्षर कहना, पुनः हृदय के पास अंजलि लाते हुए स्वरित-मध्यम स्वर से ....'त्ता' अक्षर कहना, पुनः अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मस्तक को छूते हुए उदात्त स्वर से...'भे' अक्षर कहना, प्रथम आवर्त है। इसी पद्धति से 'ज...व...णि' और 'ज्जं...च...भे' ये शेष दो आवर्त भी करने चाहिए। प्रथम 'खमासमणो' के छह और इसी भाँति दूसरे 'खमासमणो' के छह कुल बारह आवर्त होते हैं।

वन्दन विधि

वन्दन आवश्यक बड़ा ही गंभीर एवं भावपूर्ण है। आज परंपरा की अज्ञानता के कारण इस ओर लक्ष्य नहीं दिया जा रहा है और केवल येन-केन प्रकारेण मुख से पाठ का पढ़ लेना ही वन्दन समझ लिया गया है। परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि बिना विधि के क्रिया फलवती नहीं होती। अतः पाठकों की जानकारी के लिए स्पष्ट रूप से विधि का वर्णन किया जाता है-

गुरुदेव के आत्मप्रमाण क्षेत्र-रूप अवग्रह के बाहर आचार्य तिलक ने क्रमशः दो स्थानों की कल्पना की है, एक 'इच्छा- निवेदन स्थान' और दूसरा 'अवग्रहप्रवेशाज्ञायाचना स्थान।' प्रथम स्थान में वन्दन करने की इच्छा का निवेदन किया जाता है, फिर जरा आगे अवग्रह के पास जाकर अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगी जाती है।

वन्दनकर्ता शिष्य, अवग्रह के बाहर प्रथम इच्छानिवेदन स्थान में यथाजात मुद्रा से दोनों हाथों में रजोहरण लिए हुए अर्द्धावनत होकर अर्थात् आधा शरीर झुका कर नमन करता है और 'इच्छामि खमासमणो' से लेकर 'निसीहियाए' तक का पाठ पढ़ कर वन्दन करने की इच्छा निवेदन करता है। शिष्य के इस प्रकार निवेदन करने के पश्चात् गुरुदेव यदि अस्वस्थ या किसी कार्य-विशेष में व्याक्षिप्त होते हैं तो 'तिविहेण' 'त्रिविधेन'[४] ऐसा शब्द कहते हैं, जिसका अर्थ होता है- 'अवग्रह से बाहर रह कर ही संक्षिप्त वन्दन करना।' अतः अवग्रह से बाहर रह कर ही तिक्खुत्तो के पाठ के द्वारा संक्षिप्त वन्दन कर लेना चाहिए। यदि गुरुदेव स्वस्थ एवं अव्याक्षिप्त होते हैं तो 'छंदेणं' - 'छन्दसा' ऐसा शब्द कहते हैं; जिसका अर्थ होता है- 'इच्छानुसार वन्दन करने की सम्मति देना।

गुरुदेव की ओर से उपर्युक्त पद्धति के द्वारा वन्दन करने की आज्ञा मिल जाने पर, शिष्य आगे बढ़ कर, अवग्रह क्षेत्र के बाहर, किन्तु पास ही 'अवग्रह-प्रवेशाज्ञा याचना' नामक दूसरे स्थान में पुनः अर्द्धावनत होकर नमन करता है और गुरुदेव से 'अणुजाणह मे मिउग्गहं' इस पाठ के द्वारा अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता है। आज्ञा माँगने पर गुरुदेव अपनी ओर से 'अणुजाणामि' पद के द्वारा आज्ञा प्रदान करते हैं।

आज्ञा मिलने के बाद यथाजात मुद्रा- जन्मते समय बालक की अथवा दीक्षा लेने के समय शिष्य की जैसी मुद्रा होती है वैसी दोनों हाथ अंजलिबद्ध कपाल पर रखने की मुद्रा से 'निसीहि'[५] पद कहते हुए अवग्रह में प्रवेश करना चाहिए। बाद में रजोहरण से भूमि प्रमार्जन कर, गुरुदेव के पास गोदोहिका (उकडू) आसन से बैठकर, प्रथम के तीन आवर्त 'अहो कायं काय' पूर्वोक्त विधि के अनुसार करके 'संफासं' कहते हुए गुरु चरणों में मस्तक लगाना चाहिए।

तदनन्तर 'खमणिज्जो भे किलामो' के द्वारा चरण स्पर्श करते समय गुरुदेव को जो बाधा होती है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी क्षमा माँगी जाती है। पश्चात् 'अप्पकिलंताणं बहु सुभेण भे दिवसो वइक्कंतो' कहकर दिन संबंधी कुशलक्षेम पूछा जाता है। अनन्तर गुरुदेव भी 'तथा' कह कर अपने कुशल क्षेम की सूचना देते हैं और शिष्य का कुशल क्षेम भी पूछते हैं।

तदनन्तर शिष्य 'ज त्ता भे' 'ज व णि' 'ज्जं च भे' इन तीन आवर्तो की क्रिया करे एवं संयम यात्रा तथा इन्द्रिय-संबंधी और मन-संबंधी शांति पूछे। उत्तर में गुरुदेव भी 'तुब्भं पि वट्टइ' कहकर शिष्य से उसकी यात्रा और यापनीय संबंधी सुख शांति पूछे।

तत्पश्चात् मस्तक से गुरु चरणों का स्पर्श करके 'खामेमि खमासमणो' देवसियं वइक्कमं' कहकर शिष्य विनम्र भाव से दिन संबंधी अपने अपराधों की क्षमा माँगता है। उत्तर में गुरु भी 'अहमपि क्षमयामि' कहकर शिष्य से स्वकृत भूलों की क्षमा माँगते हैं। क्षामणा करते समय शिष्य और गुरु के साम्य-प्रधान सम्मेलन में क्षमा के कारण विनम्र हुए दोनों मस्तक कितने भव्य प्रतीत होते हैं? जरा भावुकता को सक्रिय कीजिए। वन्दन प्रक्रिया में प्रस्तुत शिरोनमन आवश्यक का भद्रबाहु श्रुतकेवली बहुत सुन्दर वर्णन करते हैं।

इसके बाद 'आवस्सियाए' कहते हुए अवग्रह से बाहर आना चाहिए।

अवग्रह से बाहर लौट कर- 'पडिक्कमामि' से लेकर 'अप्पाणं वोसिरामि' तक का सम्पूर्ण पाठ पढ़ कर प्रथम खमासमणो पूर्ण करना चाहिए। दूसरा खमासमणो भी इसी प्रकार पढ़ना चाहिए। केवल इतना अन्तर है कि दूसरी बार 'आवस्सियाए' पद नहीं कहा जाता है और अवग्रह से बाहर न आकर वहीं संपूर्ण खमासमणो पढ़ा जाता है तथा अतिचार चिन्तन एवं श्रमण सूत्र नमो चउवीसाए-पाठान्तर्गत 'तस्स धम्मस्स' तक गुरु चरणों में ही पढ़ने के बाद 'अब्भुट्ठिओमि' कहते हुए उठ कर बाहर आना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में जो 'बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो' के अंश में 'दिवसो वइक्कंतो' का पाठ है उसके स्थान में रात्रिक प्रतिक्रमण में 'राई वइक्कंता' पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'पक्खो वइक्कंतो' चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 'चउमासी वइक्कंता' तथा सांवत्सरिक प्रतिकमण में 'संवच्छरो वइक्कंतो' ऐसा पाठ पढ़ना चाहिए।

संदर्भ

१. 'वदि' अभिवादनस्तुत्योः, इति कायेन अभिवादने वाचा स्तवने। -आवश्यक चूर्णि

२. 'खमागहणे य मद्दवादयो सूइता' -आचार्य जिनदास

३. 'सूत्राभिधानगर्भाः काय-व्यापारविशेषाः' -आचार्य हरिभद्र, आवश्यक वृत्ति
'सूत्र-गर्भा गुरुचरणकमलन्यस्तहस्तशिरःस्थापनरूपाः।' -प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, वन्दनक द्वार

४. 'त्रिविधेन' का अभिप्राय है कि यह समय अवग्रह में प्रवेश कर द्वादशावर्त वन्दन करने का नहीं है। अतः तीन बार तिक्खुत्तो के पाठ के द्वारा, अवग्रह से बाहर रह कर ही संक्षिप्त वन्दन कर लेना चाहिए। 'त्रिविधेन' शब्द मन, वचन, काय योग की एकाग्रता पर भी प्रकाश डालता है। तीन बार वन्दन अर्थात् मन, वचन एवं काय योग से वन्दन।

५. 'निसीह' बाहर के कार्यों से निवृत्त होकर गुरु चरणों में उपस्थित होने रूप नैषेधिकी समाचारी का प्रतीक है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत प्रसंग पर कहते हैं- 'ततः शिष्यो नैषेधिक्या प्रविश्य।' अर्थात् शिष्य, अवग्रह में 'निसीह' कहता हुआ प्रवेश करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org